

मैला ढोने वाले और उनका स्वास्थ्य

राष्ट्रीय गरिमा अभियान

अस्पर्शता की सबसे भयावह पीड़ा मैला ढोने वालों (मैन्युअल स्कैवेन्जर्स) को सहनी पड़ती है, जिनकी ज़िन्दगी सार्वजनिक और निजी शौचालयों से मानव मल साफ करने और मरे हुए जानवरों की लाश को गांवों से दूर फेंकने तक



सीमित रहती है। इस बहुत धिनौने और गंदे काम को केवल दलित और दलितों में भी निम्न उपजाति के ही लोग करते हैं। इन्हें दलितों की ही अन्य उपजातियां 'अछूत' मानती हैं।

मैला ढोने की प्रथा न केवल मानवाधिकारों का उल्लंघन है, बल्कि यह मानवीय गरिमा और मानवता का भी अपमान है। यह स्थिति 'मैला ढोने वालों की नियुक्ति और सूखे शौचालय निर्माण (निषेध) कानून 1993' लागू होने के बावजूद है। यह कानून मैला ढोने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति के अलावा सूखे शौचालयों के निर्माण और उनके प्रचलन पर बंदिश लगाता है, ताकि संविधान की प्रस्तावना में प्रतिष्ठित व्यक्तिगत गरिमा का मान रखा जा सके।

मैला ढोने की परंपरा को अस्वीकार्य और घातक मानने के बावजूद भारत में यह अब भी अस्तित्व में है। कई मोर्चों पर ऐसा वैज्ञानिक और तकनीकी विकास हो चुका है, जिससे किसी को भी मैला ढोने का कार्य करने की ज़रूरत नहीं है। ऐसे कई आसान और सस्ते विकल्प मौजूद हैं, जिनसे मैला ढोने की मजबूरी को खत्म करने के साथ-साथ मानव मल का सुरक्षित निस्तारण भी किया जा सकता है। इसके बावजूद यह परंपरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी जारी है। यहां तक कि इसे स्वयं मैला ढोने वालों द्वारा भी स्वीकार करने

की प्रवृत्ति के कारण भी ये लोग अपने बुनियादी अधिकारों से वंचित हो रहे हैं।

इनके पुनर्वास के सरकारी प्रयास विफल होने के प्रमुख कारण हैं कि एक तो मैला ढोने वालों की सटीक संख्या की जानकारी का अभाव

है और पुनर्वास के लिए वित्तीय प्रावधान बहुत मामूली है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार देश में इनकी संख्या 12 लाख आंकी गई है। भारत सरकार इस अमानवीय परंपरा को खत्म करने की समय सीमा कई बार बढ़ा चुकी है। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने मैला ढोने की परंपरा के उन्मूलन के लिए कई सिफारिशों की हैं, जबकि केंद्र सरकार 27 अगस्त 2012 को 'मैला ढोने वालों की नियुक्ति का निषेध और उनका पुनर्वास विधेयक 2012' को मंजूर कर चुकी है। इसके अलावा केंद्र सरकार 12वीं पंचवर्षीय योजना में मैला ढोने की परंपरा के तीव्र गति से उन्मूलन को लेकर अपनी मंशा भी जता चुकी है।

राष्ट्रीय गरिमा अभियान

राष्ट्रीय गरिमा अभियान की नज़र में मैला ढोने की परंपरा मुख्यतः सामाजिक-राजनीतिक मुद्दा है। इसी वजह से आजीविका उपलब्ध करवाने के माध्यम से इस परंपरा का उन्मूलन करने के तमाम प्रयास विफल हो चुके हैं। मैला ढोने की परंपरा की जड़ें जाति व्यवस्था में गहरे में निहित हैं, जिसके कारण यह समुदाय हाशिए पर और शक्तिहीन नज़र आता है। इस समुदाय की महिलाओं की स्थिति के

कारण यह मुद्दा महिला अधिकारों से भी जुड़ जाता है।

मैला ढोने वालों को न केवल जबरन यह कार्य करना पड़ता है, बल्कि उन्हें कई दिक्कतों का सामना भी करना पड़ता है। उन्हें जीवन के लगभग तमाम क्षेत्रों में न्याय और अधिकारों से वंचित होना पड़ता है। इसलिए इस बदकिस्मत दलित समुदाय को दोहरी चुनौती से जूझना है - 'मुक्ति' और 'पुनर्वास' - अपने अमानवीय पेशे और अदृश्यता से मुक्ति और ऐसा समग्र पुनर्वास जिसमें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सारे मुद्दे शामिल हों, ताकि वे सम्मान और पूर्ण गरिमा के साथ ज़िन्दगी जी सकें।

मौजूदा स्थिति को लेकर सबसे बड़ी चिंता यह जताई जाती है - 'यह पूरी तरह से आत्म-सम्मान और गरिमा का मुद्दा है। लिहाज़ा कोई आर्थिक सहायता और/या सरकारी योजना इस सवाल का जवाब नहीं ढूँढ सकती।'।

दोनों ही पक्षों को अपनी ओर से ईमानदार प्रयास करने की ज़रूरत है: पहला, इस समुदाय को खुद यह काम करने से मना कर देना चाहिए तथा दूसरी ओर, पूरे समाज को चाहिए कि इस समुदाय को बगैर किसी भेदभाव के बराबरी का दर्जा दे।

स्वास्थ्य समस्याएं

मैला ढोने वालों की ज़िन्दगी में हर वक्त जोखिम रहता है। अगर इस समुदाय के लोगों की स्वास्थ्य सम्बंधी समस्याओं पर नज़र दौड़ाएँ तो इस मुद्दे की पूरी तस्वीर सामने आ जाएगी।

इन लोगों की काम करने की परिस्थितियों में पिछली एक सदी के दौरान भी कोई परिवर्तन नहीं आया है। सामाजिक भेदभाव के अलावा इन्हें उनके काम के कारण स्वास्थ्य सम्बंधी कई दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। वे रोज़ाना कई हानिकारक गैसों, जैसे मीथेन और हाइड्रोजन सल्फाइड के संपर्क में आते हैं। इस वजह से वे हृदय-रक्तवाहिनी सम्बंधी दिक्कतों, पेशीय-कंकाल सम्बंधी गड़बड़ियों, हेपेटाइटिस व लेप्टोस्पाइरोसिस जैसे संक्रमणों, त्वचा व श्वास सम्बंधी बीमारियों के शिकार बनते हैं।

मैला ढोने वाली महिलाएं भी मानव अपशिष्ट के लगातार

संपर्क में रहने के कारण कई बीमारियों से ग्रस्त रहती हैं। इनमें तपेदिक के अलावा *कैम्पीलोबैक्टर* संक्रमण, जिआर्डिएसिस, हाथ-पैर-मुँह सम्बंधी रोग, हेपेटाइटिस-ए, मेनिन्जाइटिस, रोटावाइरस संक्रमण, साल्मोनेला संक्रमण, शिगेला संक्रमण, कृमि संक्रमण इत्यादि शामिल हैं। वर्ष 2007 में प्रकाशित टाटा समाज विज्ञान संस्थान की रिपोर्ट कहती है कि मैला ढोने वालों में से 90 फीसदी को ऐसे साधन उपलब्ध ही नहीं करवाए जाते हैं कि वे मानव मल से पैदा होने वाली बीमारियों से सुरक्षित रह सकें। इन साधनों में दस्ताने, नकाब, बूट और झाड़ू शामिल हैं। मैला ढोने वाली महिला कर्मचारियों द्वारा इस कार्य में नंगे हाथों का इस्तेमाल करने का मतलब है कि मानव मल का सीधे त्वचा से संपर्क होना। इसी वजह से इस वर्ग की महिलाओं में दीर्घकालीन त्वचा सम्बंधी रोग और फेफड़ों से सम्बंधित बीमारियां बहुत आम होती हैं।

सीवेज सफाई कर्मचारी

भारत की अधिकांश नगर पालिकाओं और नगर निकायों के पास सीवेज सिस्टम को साफ करने के लिए आधुनिक मशीनें नहीं हैं। ऐसे में जब भी भूमिगत सीवेज लाइनें बंद होती हैं तो सीवेज कर्मचारियों को मैनहोल के ज़रिए नीचे उतरकर ही उन्हें साफ करना होता है। यहां इन कर्मचारियों का काम भूमिगत पाइप लाइनों की निगरानी व रख-रखाव का होता है। इन कर्मचारियों को सीवेज सिस्टम में से ठोस अपशिष्ट पदार्थों को हटाना होता है ताकि सीवेज लाइनें काम करती रहें। इस वजह से सीवेज कर्मचारियों को नियमित रूप से मैनहोल से नीचे उतरना पड़ता है, जहां बेहद ज़हरीली गैसें होती हैं।

सीवेज कर्मचारियों की कार्य करने की परिस्थितियां बहुत ही जोखिमभरी होती हैं। उन्हें मैनहोल साफ करने के लिए उपकरण के नाम पर महज़ एक रस्सी और बाल्टी दी जाती है। काम करने के दौरान उन्हें कई ज़हरीली गैसों का सामना करना पड़ता है जो उनके स्वास्थ्य के लिए नुकसानदायक होती हैं और कई बार तो इनकी वजह से उनकी जान पर ही बन आती है।

अपने काम की बेहद खतरनाक परिस्थितियों के कारण ही सीवेज कर्मचारियों के सिर पर चोटों के निशान होते हैं, आंखों में अक्सर जलन रहती है और वे त्वचा सम्बंधी रोगों से ग्रस्त रहते हैं। मौजूदा सुरक्षा



उपकरण न तो पर्याप्त हैं और न ही अच्छी गुणवत्ता के हैं। इसके अलावा अधिकांश सीवेज कर्मचारी इतने शिक्षित भी नहीं होते हैं कि उन्हें पता रहे कि इन उपकरणों का इस्तेमाल कैसे करना है। ज्यादातर सीवेज कर्मचारी या तो ठेके पर या दिहाड़ी मज़दूर के रूप में रखे जाते हैं। अधिकांश सीवेज कर्मचारियों की मृत्यु रिटायर होने से पहले ही हो जाती है। इसके अलावा अधिकांशतः व्यस्त मार्गों पर ही कार्य करना पड़ता है। ऐसे में तेज़ गति से आने वाले वाहनों से दुर्घटना होने की आशंका भी रहती है।

रेलवे में मैला ढोने वाले

भारतीय रेलवे, नगरपालिकाएं और ग्राम पंचायतें मैला ढोने वालों को ठेके पर काम पर रखती हैं। भारतीय रेलवे में सबसे ज्यादा हाथ से मैला ढोने वाले (मैन्युअल स्केवेन्जर्स) काम करते हैं जो दुनिया में सबसे ज्यादा खुले शौचालयों को साफ बनाए रखते हैं। हमारी रेलगाड़ी के प्रत्येक कम्पार्टमेंट या कोच में 'ओपन-होल' शौचालय होते हैं, जिनसे मानव मल और अन्य अपशिष्ट पदार्थ रेल लाइनों पर बिखरता रहता है। इसी से भारतीय रेलवे का पूरा नेटवर्क एक विशाल शौचालय में तब्दील हो गया है। देश के प्रत्येक रेलवे स्टेशन पर यह सामान्य दृश्य होता है कि रेलवे कर्मचारी झाड़ुओं से पटरियों को साफ कर रहे हैं। रेलवे के स्लीपर कोच के शौचालय मानव मल-मूत्र से भरे होते हैं और साफ होने के इंतज़ार में रहते हैं।

भारतीय रेलवे दुनिया का सबसे बड़ा रेलवे नेटवर्क है। इसके तहत 63 हजार कि.मी. लंबी रेल लाइनों का जाल

बिछा हुआ है और 13 लाख से भी अधिक कर्मचारी काम करते हैं। रोज़ाना लगभग 13 हजार ट्रेनें चलती हैं, जिनमें से 9 हजार यात्री गाड़ियां हैं। इनमें 1.30 करोड़ लोग रोज़ाना यात्रा करते हैं। राजीव नंदा रिपोर्ट

के अनुसार रेलगाड़ियों की शौचालय सुविधाओं में सुधार करने में हो रहे विलंब के लिए रेलवे ने कई कारण गिनाए हैं। इनमें से एक बड़ा कारण इस पर होने वाला खर्च है। एक अनुमान के अनुसार रेलगाड़ियों में बॉयो-टॉयलेट्स पर करीब 1600 करोड़ रुपए खर्च होंगे। भारतीय रेलवे रोज़ाना 50 हजार कोच का संचालन करता है, जिनमें से 43 हजार कोच यात्री कोच होते हैं। यानी रोज़ाना एक लाख 72 हजार ऐसे शौचालयों का संचालन होता है, जिनमें कोई आधुनिक सुविधाएं नहीं होती हैं। इनमें से मानव मल सीधे पटरियों पर गिरता है। इन डिब्बों और पटरियों को साफ रखने के लिए बड़ी संख्या में सफाई कर्मचारियों की ज़रूरत होती है।

परंपरा के जारी रहने और सरकारी योजनाओं की विफलता के मुख्य कारण

- मैला ढोने वालों की नियुक्ति और सूखे शौचालय निर्माण (निषेध) कानून 1993 के अस्तित्व में आने के बाद से सरकारी पुनर्वास कार्यक्रम इसलिए फेल हो गए, क्योंकि इनका पूरा ज़ोर मुख्यतः पुरुष कामगारों पर रहा, महिला कामगारों पर नहीं, जबकि इस पेशे में काम करने वालों में 98 फीसदी हिस्सा महिलाओं का है।

- इस पेशे में लगे परिवारों के बच्चों को स्कॉलरशिप देने का एक कार्यक्रम खुद सरकार के मैला ढोने की प्रथा के उन्मूलन की राह में रोड़ा बन रहा है। इस स्कॉलरशिप के लिए ज़रूरी है कि बच्चे का परिवार साल में कम से कम सौ दिन मैला ढोने के कार्य में संलग्न रहे। यानी सरकार की यह विकृत योजना लोगों को इस पेशे में बने रहने के लिए 'प्रेरित' करती है।

• तमाम सरकारी पुनर्वास कार्यक्रमों में वित्तीय पहलू पर ही ज़ोर दिया गया है और जाति आधारित उत्पीड़न व सम्बंधित सामाजिक परिस्थितियों का समाधान करने में वे विफल रहे हैं।

• सरकारी पुनर्वास कार्यक्रमों में मुस्लिम समुदायों की पूरी तरह से उपेक्षा की गई। हेला और हलालखोर जैसे मुस्लिम समुदाय के लोग भी उसी तरह से मैला ढोने के काम में संलग्न हैं, जैसे कि हिंदू दलित जातियां। इन समुदाय के लोग कई राज्यों में बसे हुए हैं। उल्लेखनीय है कि इन समुदायों में भी पीड़ित मुख्यतः महिलाएं हैं।

• कई राज्यों ने यह कहकर 'मैला ढोने वालों की नियुक्ति और सूखे शौचालय निर्माण (निषेध) कानून 1993' को लागू करने से इंकार कर दिया कि उनके यहां न तो सूखे शौचालय हैं और न ही मैला ढोने वाले लोग, जबकि साक्ष्य उनके दावों के विपरीत थे। जिन राज्यों ने यह कानून लागू किया, वहां भी इसका क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं हो पाया, क्योंकि इस कानून में ही कई खामियां हैं। यह कानून न तो स्पष्ट जवाबदेही तय करता है और न ही दंड लगाता है।

• ऐसी कोई राष्ट्रीय या राज्य स्तरीय संस्था नहीं है, जो 'मैला ढोने वालों की नियुक्ति और सूखे शौचालय निर्माण (निषेध) कानून 1993' के क्रियान्वयन पर निगरानी रख सके। केंद्र और कुछ राज्यों में सफाई कर्मचारी आयोग कार्यरत हैं, लेकिन उन्होंने भी अपना दायित्व प्रभावी ढंग से नहीं निभाया है।

• मैला ढोने की परंपरा के सतत जारी रहने से कई अन्य कानूनों जैसे अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार निरोधक) कानून 1989, नागरिक अधिकार संरक्षण कानून 1955 और बंधुआ मजदूर व्यवस्था (उन्मूलन) कानून 1976 का भी लगातार उल्लंघन हो रहा है।

• सरकार को यह समझने की ज़रूरत है कि इस पेशे से जुड़े लोगों को पुनर्वास के लिए केवल ऋण और सब्सिडी मुहैया कराना एक तरह से मज़ाक उड़ाने जैसा है। यह उम्मीद करना



बेमानी है कि जो लोग पीड़ियों से जिस कार्य में लगे हुए हैं, वे ऋण और सब्सिडी के रूप में उपलब्ध करवाई गई थोड़ी-सी धनराशि के कारण अपनी ज़िन्दगी का पहिया पूरी तरह से मोड़ लेंगे, खासकर उस स्थिति में जबकि उनके साथ सामाजिक भेदभाव में कोई कमी नहीं आएगी। इन पीड़ित लोगों को ऋण की बजाय अनुदान के रूप में कहीं अधिक वित्तीय सहायता की ज़रूरत है। साथ ही उन्हें बीपीएल की सूची में शामिल करने और इंदिरा आवास योजना जैसी योजनाओं के तहत मकान मुहैया करवाने जैसे प्रयास भी होने चाहिए।

• इस पेशे से जुड़े लोगों के सर्वे में भारी खामियां हैं। सबसे बड़ी खामी तो यह है कि इस पेशे में संलग्न लोगों में महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों की संख्या ज़्यादा बताई गई है, जबकि सच्चाई इसके उलट है। इसके अलावा सर्वे में उन लोगों को छोड़ दिया गया है जो वाकई इस पेशे से जुड़े हैं और जिन्हें पुनर्वास लाभों की ज़्यादा ज़रूरत है। इसके विपरीत ऐसे कई लोग शामिल हैं, जिनका मैला ढोने के कार्य से दूर-दूर तक नाता नहीं है। सर्वे में ग्रामीण क्षेत्रों की भी भारी उपेक्षा हुई है और इस पेशे में बड़ी संख्या में संलग्न ग्रामीणों को छोड़ दिया गया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मैला ढोने वाले और सीवेज कामगार मुख्यतः इसके रासायनिक दुष्प्रभावों से पीड़ित हैं। इन दुष्प्रभावों को इंजीनियरिंग, मेडिकल और कानूनी उपायों से रोका जा सकता है। इंजीनियरिंग साधनों का इस्तेमाल करके इस प्रक्रिया को और अधिक मशीन-आधारित बनाया जा सकता है। इन कामगारों को समय-समय पर स्वास्थ्य निगरानी सेवा का भी फायदा मिलना चाहिए। इसके अलावा 'मैला ढोने वालों की नियुक्ति और सूखे शौचालय निर्माण (निषेध) कानून 1993' के प्रभावी क्रियान्वयन से भी इस समस्या के उन्मूलन में मदद मिलेगी। नियमित जागरूकता कार्यक्रम भी आयोजित किए जाने चाहिए, जिससे सुरक्षित सफाई और व्यक्तिगत सुरक्षा उपायों के इस्तेमाल की जानकारी मिलती रहे। (स्रोत फीचर्स)